शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अप्रेल : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, चैत्र, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : १२

निरंतर स्मरण में रखना

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि हेतु हे मुनि! दीक्षा प्रसंग की तीव्र विरक्तदशा को, किसी रोगोत्पत्ति प्रसंग की उग्र वैराग्यदशा को, किसी दुःख प्रसंग पर प्रगट हुई उदासीनता की भावना को, किसी सत् उपदेश के धन्य अवसर पर जागृत हुई पवित्र अंतरभावना को स्मरण में रखना.... निरंतर स्मरण में रखना.... भूलना नहीं!

(— 'भावपाहुड़' में श्री कुंदकुंदाचार्यदेव)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२०३]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अपूर्व अवसर नया प्रकाशन

(श्रीमद् राजचंद्रजी कृत एक महान काव्य) इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन हिन्दी में छप रहे हैं, जो मार्च महीने के अंत में तैयार हो रहा है।

★

श्री समयसार (परमागम शास्त्र)

सुंदर ढंग से छप रहा है। इस ग्रंथ में गाथाएँ रंगीन स्याही से छप रही हैं। कई मुख्य गाथाएँ सुनहरी स्याही से भी छप रही हैं। इस बार का प्रकाशन बढ़िया कीमती कागज पर लागत से भी कम मूल्य में सस्ता होगा। जिज्ञासुओं की माँग बहुत होने से निवेदन है कि वे धैर्य रखें।

—प्रकाशक

★

श्री जैनदर्शन शिक्षण वर्ग

ग्रीष्मावकाश की छुट्टियों में विद्यार्थियों के लिये सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में जैनदर्शन शिक्षण वर्ग चालू होगा जो कि मई मास तारीख १३-५-६२ से शुरु होकर तारीख ३-६-६२ तक चालू रहेगा।

हरेक जिज्ञासु विद्यार्थी तत्त्वज्ञान द्वारा प्रयोजनभूत आत्महित का मार्ग स्पष्टरूप में समझ सके, इसलिये जैनदर्शन शिक्षण वर्ग शुरु होगा। जिज्ञासु विद्यार्थी धार्मिक शिक्षण का लाभ लेकर छुट्टियों का सदुपयोग करें, ऐसी खास प्रार्थना है।

विद्यार्थियों के लिये रहने, जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी। आने के लिये पत्र द्वारा जवाब मँगवा लेवें।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

अप्रेल : १९६२ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, चैत्र, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : १२

मोक्षमार्ग एक ही है दो या तीन नहीं हैं

(आत्मधर्म अंक १९८ से आगे)

श्री समयसार गाथा ४१२ के कलश २४० में कहा है कि:—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक-
स्तत्रैवस्थितिमेतियस्तमनिशं ध्यायेच्य तं चेतति।
तस्मिन्नैव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पशन्,
सोऽवश्यं समयस्यसारमचिरान्नित्योदयं विन्दति॥२४०॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह 'एक' नियत मोक्षमार्ग है, उसी में जो पुरुष स्थिति को प्राप्त होता है अर्थात् स्थित रहता है, उसी को निरंतर ध्याता है, उसी को चेतता-अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरंतर विहार करता है, वह पुरुष जिसका *उदय नित्य रहता है, ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के रूप को) अल्पकाल में ही **अवश्य प्राप्त करता है—अनुभव करता है।

भावार्थ—निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से अल्पकाल में ही मोक्ष की प्राप्ति हो ऐसा ×नियम है॥२४०॥

---

* *शुद्ध अवस्था के प्रकट होने को भी 'उदय' कहा जाता है—मात्र कर्म की अवस्था को ही 'उदय' कहते हैं—ऐसा नहीं है।*

** *अवश्य=रागादि कर्मों के उदय-परद्रव्यादि के वश न होना—अपने आत्मा के वश होकर रहना। देखो, श्री नियमसार गाथा-१४६, आवश्यक अधिकार।*

× *त्रिकाल एक ही स्वरूप ऐसा नियम है। उस पर से व्यवहारमोक्षमार्ग परावलम्बी है, इसलिये उसके द्वारा मोक्ष नहीं होता—बंध होता है ऐसा नियम बतलाया।*

इस कलश का अर्थ श्री समयसार कलश-टीका पृष्ठ २७५ में दिया गया है; वह उपयोगी होने के कारण यहाँ ले रहे हैं। वह निम्नानुसार है:—

(१) स=ऐसा है जो सम्यग्दृष्टि जीव (२) नित्योदय=नित्य उदयरूप, (३) समयस्यसार= सर्व कर्मों का विनाश करके प्रगट हुआ है जो शुद्ध चैतन्य मात्र उसका (४) अचिरात्=अति [१]ही अल्पकाल में (५) अवश्यं विन्दति= ३सर्वथा आस्वाद-वेदन करता है।

(५) भावार्थ यह है कि निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

(६) कैसा है वह (सम्यग्दृष्टि जीव) यः=जो सम्यग्दृष्टि जीव

(७) तत्र=शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु में

(८) एव=एकाग्र होकर

(९) स्थितिम् एति=स्थिरता करता है,

(१०) च=तथा तं=शुद्ध स्वरूप का (अनिशंध्यायेत=) निरंतर रूप से अनुभव करता है; (च तं येतति=)बारम्बार उस शुद्ध स्वरूप का स्मरण करता है। (च तस्मिन् एव निरन्तर विहरति=) शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर अखंड धाराप्रवाहरूप वर्तती है; (द्रव्यान्तराणि अस्पृशन्=) जितनी किसी कर्म के उदय से नाना प्रकार की अशुद्ध परिणति हैं, उन्हें सर्वथा छोड़ता हुआ; (यः दृग्ज्ञप्ति वृत्यात्मकः=)दर्शन-ज्ञान-चारित्र सर्वस्व जिसे इस प्रकार हैं; (मोक्षपथः=) उसे शुद्धस्वरूप से परिणमित होने पर समस्त कर्म क्षय होते हैं। (एक=) समस्त विकल्प से रहित है; (नियतं=) द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखने पर जैसा है वैसा है; उसमें हीन वा अधिक नहीं है।

यहाँ "अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ" इस पद का अर्थ सर्व प्रकार की अशुद्ध परिणति को छोड़ता हुआ—ऐसा किया है; वह बतलाता है कि—परपदार्थों को तथा सर्व प्रकार की अशुद्ध परिणति को 'द्रव्यांतर' कहा है; इसलिये सिद्ध हुआ कि—व्यवहारमोक्षमार्ग अशुद्ध परिणतिरूप द्रव्यांतर है, उससे मोक्ष नहीं होता; इसलिये वह छोड़ने योग्य है; वह करते-करते मोक्षमार्ग या मोक्ष होता है—यह श्रद्धा असत्य होने के कारण छोड़ने योग्य है।

'श्री योगसार' की २९वीं गाथा का सार ऐसा है कि—मूढ़ लोग व्यवहार व्रत, संयम तथा

१- कुछ लोग मानते हैं कि—जैनसिद्धांत में 'ही' और 'सर्वथा' कुछ होता ही नहीं; वह मान्यता यथार्थ नहीं है—ऐसा यहाँ बतलाया है। श्री समयसार कलश-टीका में तो स्थान-स्थान पर 'ही' और 'सर्वथा' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

२८ मूलगुणों को मोक्षमार्ग कहते हैं परंतु वे सब किंचित् मोक्षमार्ग नहीं हैं। शुद्ध-पवित्र तथा उत्कृष्ट आत्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है।

यह विषय श्री समयसार गाथा ४१२ की टीका में निम्नोक्त शब्दों में समझाया है:—

''×××तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्ध ज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत-अनुभव कर, तथा द्रव्यस्वभाव के वश (अपने को) क्षण क्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, तद्रूपता द्वारा (अर्थात् परिणामीपने द्वारा) तन्मय परिणामवाला (दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहर तथा ज्ञानरूप एक का ही अचलरूप से अवलंबन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधि स्वरूप है, ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में किंचित् न विहर।''

इस टीका में 'ध्या', 'चेत-अनुभव कर,' 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहर' 'सर्व ओर से फैलते हुये समस्त परद्रव्यों में किंचित् भी न विहर'—इसप्रकार चारों बोल आज्ञावाचक (Imperative) हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मी जीवों को यह एक ही मोक्षमार्ग मानना चाहिये—ऐसी श्री कुंदकुंदाचार्य और श्री अमृतचंद्र आचार्य की आज्ञा है।

इस टीका पर से व्यवहारमोक्षमार्ग कैसा है, वह समझ में आता है। वह निम्नानुसार है:—

(१) व्यवहारमोक्षमार्ग, कर्मचेतना है और वह त्यागने योग्य है। उसके द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

(२) व्यवहारमोक्षमार्ग, स्वद्रव्य के स्वभाव के वश नहीं होता किंतु परद्रव्य के स्वभाव के वश होता है।

(३) व्यवहारमोक्षमार्ग (-निज) तन्मय परिणामवाला नहीं है, किंतु तन्मय परिणाम से विरुद्ध है।

(४) व्यवहारमोक्षमार्ग, एक ज्ञानरूप का ही अवलम्बन नहीं करता किंतु परद्रव्य के अवलम्बन से होता है।

(५) व्यवहारमोक्षमार्ग, उपाधिस्वरूप है; निश्चयमोक्षमार्ग, समाधिस्वरूप है, इसलिये दोनों परस्पर विरुद्धभाव हैं। कलश २४० का अर्थ करते हुए श्री कलश-टीका में उसी को अशुद्ध परिणति कहा है।

श्री समयसार गाथा ४१० में—मुनि के और गृहस्थ के लिंग वह मोक्षमार्ग नहीं हैं (ऐसा

बतलाकर) दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जिनदेव मोक्षमार्ग कहते हैं—ऐसा कहा है। इस पर से निश्चित होता है कि श्री समयसार में भी स्थान-स्थान पर एक ही मोक्षमार्ग है और दो या तीन मोक्षमार्ग नहीं हैं—ऐसी श्रद्धा करायी है।

व्यवहार से विमोहित जीवों का स्वरूप

यह विषय—'मोक्षमार्ग एक ही है'—ऐसा निर्णय करने के लिये उपयोगी होने के कारण यहाँ लिया गया है। श्री समयसार गाथा ८ की टीका में इस संबंध में निम्नानुसार कहा है:—

''व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक होने से, व्यवहार *स्थापन करने योग्य है; तथा ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना चाहिये—इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।

जो व्यवहार को अनुसरण करने योग्य मानते हैं, उनकी श्रद्धा मिथ्या होने के कारण वे 'व्यवहार से विमोहित' है—ऐसा यहाँ समझाया है।

तत्पश्चात् श्री समयसार गाथा ११ के शीर्षक में प्रश्न किया है कि—व्यवहारनय किसलिये अनुसरण करने योग्य नहीं है ?—इसके उत्तररूप से गाथा ११ में कहा है कि:—

''व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित है; शुद्धनय अभूतार्थ है; भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव निश्चय से सुदृष्टि होता है'' ॥११॥

इस गाथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्री अमृतचंद्र आचार्य कहते हैं कि:—

व्यवहारनय सारा ही अभूतार्थ होने से अभूत अर्थ को प्रगट करता है; एक शुद्धनय ही भूतार्थ होने से भूत अर्थ को प्रगट करता है।××

आत्मा और कर्म का विवेक न करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्मा को) जिसमें भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) है, ऐसा अनुभव करते हैं।×××

(यहाँ) व्यवहार से विमोहित जीवों को शुद्धात्मा का अनुभव कभी नहीं होता अर्थात् उनकी श्रद्धा मिथ्या है—ऐसा समझना। यह जीव एक या दूसरे प्रकार से व्यवहार जो कि सर्व अभूतार्थ है, उसके आश्रय से आंशिक लाभ होना मानते हैं; इसलिये उन्हें विमोहित कहा है।

---

* *नय दो हैं—उनमें एक व्यवहारनय है, इसलिये वह है ऐसा स्थापन करना वह योग्य है; इसलिये दोनों नयों का ज्ञान आवश्यक है; किंतु व्यवहार के आश्रय से धर्म नहीं होता इसलिये धर्म के लिये वह आश्रय करने योग्य नहीं है—ऐसा उसकी हेयता का ज्ञान भी साथ ही होना चाहिये।*

उसी गाथा के भावार्थ में पंडित जयचंद्रजी कहते हैं कि:—

''×××**प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। तथा जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का *हस्तावलंबन जानकर बहुत किया है; किंतु उसका फल संसार ही है**×××''

इसप्रकार यहाँ तीन प्रकार कहे हैं:—

(१) जीवों को व्यवहार का पक्ष अनादि से ही है,

(२) उसका उपदेश भी प्राणी परस्पर बहुत करते हैं,

(३) जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश बहुत किया है।

किंतु इन तीनों का फल एक ही है, अर्थात् संसार ही है, अन्य कुछ नहीं। व्यवहार का विषय व्यवहारनय से हेयबुद्धि से जानने योग्य है, परंतु अंशत: भी आश्रय करने योग्य नहीं है—ऐसा यहाँ स्पष्ट किया गया है।

ज्ञानी पुरुषों को उनकी भूमिकानुसार निचले गुणस्थानों में (-सविकल्पदशा में) अपनी निर्बलता के कारण व्यवहार आये बिना नहीं रहता, किंतु वे उससे विमोहित न होने से व्यवहार उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है—ऐसा मानते हैं; वह अशुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाला होने के कारण उससे जीव को अंशत: भी लाभ होता है—ऐसा वे नहीं मानते।

श्री जयसेनाचार्य 'व्यवहारनय किसलिये अभूतार्थ है'—उसका स्पष्टीकरण समयसार गाथा ४६ की टीका में निम्नोक्त शब्दों में करते हैं:—

यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बत्वेन अभूतार्थस्तथापि रागादि बहिर्द्रव्यालम्बनरहित विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्यालम्बन सहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वात् दर्शयितुमुचितो भवति...

अर्थ—यद्यपि इस व्यवहारनय को बहिर्द्रव्य का अवलम्बन होने से अभूतार्थ है, तथापि रागादि, बहिर्द्रव्यालम्बनरहित विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावस्य आलम्बनरहित परमार्थ का प्रतिपादक होने से दर्शाना उचित है।

इसप्रकार यहाँ स्पष्ट आदेश दिया है कि—व्यवहारनय को परद्रव्य का आलम्बन होने से अभूतार्थ है। यह तो निर्विवाद सिद्धांत है कि स्वद्रव्यालम्बन से ही धर्म होता है, परद्रव्य के आलम्बन से कदापि धर्म नहीं होता; किंतु पुण्य-पापरूप भाव होते हैं।

---

* *हस्तावलंबन-निमित्त; प्रतिपादक।*

[१५]

श्री समयसार गाथा ५६ की गाथा में इस संबंध में निम्नोक्तानुसार कहा है:—

''यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से, सफेद रुई का वस्त्र जो कुसुम्बा द्वारा रंगा हुआ है —ऐसे वस्त्र के औपाधिकभाव (-लाल रंग) की भाँति पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंध पर्याय प्रसिद्ध है, ऐसे जीव के औपाधिकभावों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ **(वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है;**

और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित् दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है।

यहाँ निम्नानुसार बतलाया है:—

(१) व्यवहारनय जीव के औपाधिकभावों का अवलम्बन लेकर वर्तता है

(२) इसप्रकार वर्तते हुए, दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है; (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३६६ में भी ऐसा ही कहा है)।

(३) सत्यार्थ नहीं कहता, इसलिये निश्चयनय उसका निषेध करता है।

(४) व्यवहारनय निषेध्य है, निश्चयनय उसका निषेधक है।

(५) व्यवहारनय तो औपाधिकभावों का अवलम्बन लेकर वर्तता है, इसलिये उसीप्रकार उसका ज्ञान करना चाहिये, किंतु उससे विमोहित नहीं होना चाहिये।

कर्ताकर्म संबंध में व्यवहार विमोहित जीव की विपरीत मान्यता

इस संबंध में श्री समयसार के कर्ताकर्म अधिकार (कलश ६२) में निम्नानुसार कहा है:—

आत्मा ज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोतिकिम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करेगा? आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना (तथा कहना) वह व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है॥६२॥

श्री समयसार कलश-टीका (पृष्ठ ७९) में इस कलश का अर्थ करते हुए बतलाते हैं कि:—

आत्मा अर्थात् चेतन द्रव्य परभावस्य अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मों को करता है, ऐसा जानना सो व्यवहारी का मोह है।

(अज्ञानी तो व्यवहारनय के कथन को ही निश्चय मानते हैं।—यह व्यवहारियों की मूढ़ता-अज्ञानता है।)

इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए श्री समयसार गाथा ९८ की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि:—

''जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादि की क्रियारूप) व्यापार द्वारा यह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्म को करता हुआ (व्यवहारियों को) प्रतिभासित होता है, इसलिये उस प्रकार (आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अंतरंग कर्म को भी—दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप होने से उनमें अंतर न होने के कारण-करता है, ऐसा व्यवहारी जीवों का व्यामोह (भ्रांति, अज्ञान) है।''

(इसप्रकार व्यवहार से विमोहित जीव, जीव और अजीव का भेदज्ञान नहीं कर सकते, तब फिर जीव और आस्रव के बीच का भेद ज्ञान तो कैसे कर सकेंगे ? नहीं कर सकते। नवतत्त्वों में से प्रथम दो तत्त्वों संबंधी मूढ़ता उनके वर्तती है।)

इस गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य निम्नानुसार कहते हैं:—

'परभाव को आत्मा करता है—ऐसा जो व्यवहारीजन कहते हैं, वह व्यामोह है—ऐसा उपदेश देते हैं।'

'जिसप्रकार अन्योन्य (परस्पर) व्यवहार से घट-पट-रथादि बहिर्द्रव्य इच्छापूर्वक आत्मा करता है, उसीप्रकार अभ्यंतर में करण, इन्द्रियाँ तथा नोकर्म को एवं इस जगत में विविध क्रोधादि द्रव्यकर्म इच्छापूर्वक उनमें अंतर न होने के कारण करता है—ऐसा वे मानते हैं, इसलिये (उनका ऐसा मानना) वह व्यवहारी की व्यामोहमूढ़ता है।''

(आत्मा व्यवहार से या निश्चय से परद्रव्य का कुछ भी करे, ऐसा जगत में कभी होता ही नहीं। आत्मा व्यवहार से परद्रव्य का करता है, ऐसा मानना तो आत्मा के राग के निमित्तपने का ज्ञान कराने का कथन है; उस पर से ऐसा मानना कि व्यवहार से तो आत्मा परद्रव्य का कर सकता है—वह व्यवहारियों का व्यामोह है—ऐसा यहाँ समझाया है।)

[१६]

पुण्यभाव संबंधी व्यवहारी की विमोहितता

श्री समयसार पुण्य-पाप एकत्व अधिकार कलश १०७ की टीका में (श्री राजमलजी कृत समयसार कलश टीका, पृष्ठ १०८ में) कहा है कि:—

भावार्थ—जितनी शुभ-अशुभ क्रिया-आचरण अथवा बाह्यरूप वक्तव्य अथवा सूक्ष्म अंतरंगरूप चिंतवन, अभिलाष, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्धत्वरूप परिणमन है, शुद्ध परिणमन नहीं है, वह बंध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है।

इसलिये कम्बल पर चित्रित [१]नाहर जिसप्रकार कथनमात्र नाहर है, उसीप्रकार व्यवहारचारित्र कथनमात्र चरित्र है, किंतु चारित्र नहीं है।

तत्पश्चात् कलश १०८ की टीका में (श्री कलश-टीका, पृष्ठ १०९ में) बतलाया है कि:—

''यहाँ कोई ऐसा जाने कि—शुभाशुभक्रियारूप—आचरणरूप जो चारित्र है, वह जिसप्रकार करने योग्य नहीं है, उसीप्रकार वर्जित करनेयोग्य भी नहीं है। उसे उत्तर—ऐसा कि वर्जित करने योग्य है, क्योंकि जो भी व्यवहारचारित्र है, वह दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिये विषय-कषाय की भाँति क्रियारूप चारित्र निषेध्य है।''

व्यवहार विमोहित जीव ऐसा कहते हैं कि—व्यवहार करते-करते निश्चय होता है; ज्ञानी उसका निषेध करके कहते हैं कि वह सब छोड़ने योग्य है; इसलिये उसे छोड़कर—त्यागकर वे निश्चयचारित्ररूप परिणमन करते हैं।

श्री पूज्यपादस्वामी श्री इष्टोपदेश गाथा ४७-४८ में भी कहते हैं कि:—

''जो योगी व्यवहार धर्म से बाहर जाकर आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ होते हैं, उन्हें परमानंद का लाभ होता है ॥४७॥''

''वह आनन्द अनेक प्रकार के कर्मों को—जिसप्रकार अग्नि ईंधन को जला देती है, उसीप्रकार—भलीभाँति जला देता है। योगी आत्मध्यान में लीन होने से बाह्य कष्टों के कारणों की किंचित् भी परवाह न करके किंचित् भी खेद प्राप्त नहीं करते ॥४८॥''

इसप्रकार व्यवहारधर्म, बंध का कारण होने से वह छोड़ने योग्य है—उससे बाहर निकलना योग्य है—उसे लाँघकर शुद्धता प्रकट करना योग्य है;—ऐसा जो नहीं मानते, किंतु व्यवहारधर्म (व्यवहार साधन होने से) करते-करते निश्चयधर्म होगा—ऐसा जो मानते हैं, वे व्यवहार से विमोहित हैं। व्यवहार साधन का अर्थ इतना ही है कि—जीव जब उसका उलंघन करके शुद्धता

१- यहाँ व्यवहारचारित्र को कम्बल पर चित्रित नाहर की उपमा दी है। जिसप्रकार वह चित्ररूप नाहर किसी पशु को फाड़-मार नहीं सकता उसीप्रकार व्यवहारचारित्र विकार को नहीं फाड़ सकता—उसका नाश नहीं कर सकता—ऐसा समझना; क्योंकि वह स्वयं बंध का ही कारण है—मोक्ष का कारण नहीं है—विकाररूप है।

प्रगट करता है, तब उसे (भूतनैगमनय से) निमित्त कहा जाता है। तथापि व्यवहार करते-करते निश्चय धर्म होता है, ऐसा माननेवाला व्यवहार को ही निश्चय मानता है।

सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में कहा गया व्यवहार विमोहित जीवों का स्वरूप

श्री समयसार गाथा ३२४ से ३२७ की टीका में कहा है कि:—

''अज्ञानी ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहार में ही विमूढ़) होने से परद्रव्य को 'यह मेरा है'—ऐसा देखता है—मानता है; ज्ञानी तो निश्चय प्रतिबुद्ध (निश्चय से ज्ञाता) होने से परद्रव्य की कणिका मात्र को भी 'यह मेरा है'—ऐसा नहीं देखते।''

इन गाथाओं का शीर्षक बाँधते हुए पण्डित जयचंद्रजी लिखते हैं कि:—

अब, ''जो व्यवहारनय के कथन को ग्रहण करके 'परद्रव्य मेरा है'—ऐसा कहते हैं, इसप्रकार व्यवहार को ही निश्चय मानकर आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं।''इत्यादि अर्थ की गाथाएँ दृष्टांत सहित कहते हैं।

इन गाथाओं की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि:—

प्रश्न:—ज्ञानी होने पर भी व्यवहार से परद्रव्य को आत्मीय (अपना) कहने से किस कारण वह अज्ञानी हो जाता है ?

उत्तर:—व्यवहार ही, म्लेच्छों को म्लेच्छ की भाषा में कहने की भाँति प्राथमिक जनों को बोध देने के हेतु उसी काल कहने योग्य है। प्राथमिक जनों को बोध देने का काल छोड़कर, कतक फल की भाँति (शुद्धनय) शुद्धिकारक होने से शुद्धनय से च्युत होकर यदि परद्रव्य को आत्मीय बनाये तो वह मिथ्यादृष्टि होता है।

इस पर से ऐसा समझना चाहिये कि प्राथमिक जनों को बोध देने के हेतु (-वह निश्चय का प्रतिपादक होने से) शास्त्र व्यवहार का कथन करते हैं। ऐसा होने पर भी जो व्यवहार के कथन को ही निश्चय का स्वरूप मान लेते हैं, वे व्यवहारमूढ़-व्यवहार विमोहित हैं।

इन्हीं ३२४-३२७ की टीकाओं में आगे चलकर कहा है कि:—''××यदि ज्ञानी भी किसी भी प्रकार से व्यवहार विमूढ़ होकर परद्रव्यों को 'यह मेरा है'—ऐसा देखे तो उस समय वह भी नि:संशयरूप से अर्थात् निश्चित, परद्रव्यों को अपनेरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है।××''

श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं कि:—

इसप्रकार ऊपर कहे हुए दृष्टान्तानुसार ज्ञानी 'व्यवहार मूढ़' होकर यदि परद्रव्य को आत्मीय जाने तो वह उससमय मिथ्यात्व प्राप्त करता हुआ मिथ्यादृष्टि नि:संशय—निश्चित होता है उसमें संदेह कर्तव्य नहीं है।'' (पृष्ठ ४२९)

तत्पश्चात् श्री समयसार गाथा ४१३ की टीका, भावार्थ और उसके कलश २४२ में इस संबंधी निम्नानुसार कहा है:—

''जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ'—इसप्रकार द्रव्यलिंग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादि रूढ़ (अनादि काल से चले आ रहे) व्यवहार में मूढ़ (मोही) वर्तते हुए, प्रौढ़ विवेकवान निश्चय (-निश्चयनय) पर अनारूढ़ वर्तते हुए परमार्थ सत्य भगवान समयसार को देखते-अनुभव नहीं करते।''

इस टीका में निम्नोक्त शब्द अत्यन्त उपयोगी हैं:—

(१) 'अनादिरूढ़ व्यवहार में मूढ़'—यह शब्द ऐसा बतलाते हैं कि—व्यवहारमूढ़ता तो जीवों को अनादि से चली आ रही है, यानी द्रव्यलिंग को अर्थात् शुभभाव को धर्म मानना, वह तो अनादि से ही जीवों के चला आ रहा है। व्यवहार से शुद्धता होती है, यह मान्यता तो मिथ्या है और जब तक जीव उस मान्यता को नहीं छोड़ेगा, तब तक उसका शुभभाव के प्रति ममकाररूप मिथ्या अहंकार किसप्रकार विलय होगा?—कभी नहीं हो सकता। (इस भाव का कथन श्री समयसार गाथा ११ के भावार्थ में दिया है-जो पहले दिया जा चुका है।)

(२) वे व्यवहार के आश्रय से लाभ होगा—ऐसा मानते हैं, इसलिये प्रौढ़ विवेकवान निश्चयनय पर अनारूढ़ वर्तते हैं—आरूढ़ नहीं होते—चढ़ते नहीं हैं, इसलिये उन्हें लेशमात्र धर्म नहीं होता अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होता।

[यहाँ ध्यान में रखना चाहिये कि—निश्चय से आचार्यदेव ने प्रौढ़ विवेकवान कहा है, क्योंकि श्री समयसार की ११ वीं गाथा में कहे अनुसार उसके (निश्चयनय के) आश्रय से पर पदार्थ एवं राग से (व्यवहारनय से) भेदज्ञान होकर निज त्रैकालिक शुद्धता की ओर पुरुषार्थ की गति मुड़ती है और सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है। श्री समयसार गाथा ४३ में 'निश्चयवादी को ही' परमार्थवादी (सत्यार्थवादी) कहा है, दूसरों को—व्यवहारवादियों को नहीं। श्री समयसार गाथा ३२४-३२७ की टीका में ज्ञानियों को 'निश्चय प्रतिबुद्ध' अर्थात् निश्चय

का जाननेवाला कहा है और गाथा ४१३ में ज्ञानियों को प्रौढ़ विवेकवान निश्चय (नय पर) आरूढ़ कहा है। निश्चयवादी और निश्चयाभासी के बीच महान अंतर है, यह ध्यान में रखने योग्य है।]

इस गाथा के भावार्थ में पंडित जयचंद्रजी इस बात की स्पष्टता प्रचलित भाषा में करते हुए कहते हैं कि:—

''अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से हुआ जो व्यवहार, उसी में जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे ऐसा मानते हैं कि—'यह बाह्य महाव्रतादि भेष है, वही हमें मोक्ष प्राप्त करायेगा।' परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है, ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते।''

(टीका में जिसे 'प्रौढ़ विवेकवान निश्चय' कहा था, उसे प्रचलित भाषा में पंडितजी ने 'जिससे भेदज्ञान होता है, ऐसा निश्चयनय' कहा है।)

इस कथन को विशेष स्पष्ट करने के लिये कलश २४२ है; उसमें आचार्यदेव ने—'व्यवहारविमूढ़ दृष्टयः' ऐसे शब्द का प्रयोग किया है। उस कलश का हिन्दी अनुवाद निम्नानुसार है:—

व्यवहार में ही जिनकी दृष्टि (बुद्धि) मोहित है, ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते। जिसप्रकार जगत में तुष के (भूसे के) ज्ञान में ही जिनकी बुद्धि मोहित है, (-मोह को प्राप्त है) ऐसे पुरुष, तुष को ही जानते हैं, तंडुल को नहीं जानते। [यहाँ व्यवहार को 'तुष' की उपमा और निश्चय को 'तंडुल' की उपमा दी है।]

'श्री दोहा पाहुड़' नामक शास्त्र के ८५ वें दोहे में यह भूसा और कण का दृष्टान्त दिया है; उस दोहे का अर्थ निम्नानुसार है:—

''हे पांडे! हे पांडे! हे पांडे! तून कण को छोड़कर मात्र भूसा ही कूटता है, अर्थात् तू अर्थ और शब्द में ही संतुष्ट है किंतु परमार्थ को नहीं जानता इसलिये मूख है।''

[यहाँ व्यवहार को तुष और परमार्थ को—निश्चय को कण कहा है।]

[१८]

ऊपर कहे हुए २४२ वें कलश का अर्थ विशेष स्पष्ट करने के लिये पंडित श्री बनारसीदासजी कृत 'श्री समयसार-नाटक' में ११९ से १२१ तक के कवित्त उपयोगी होने के कारण यहाँ अर्थ-सहित दिये जा रहे हैं:—

(१)

जे व्यवहारी मूढ नर, पर्ययबुद्धि जीव,
तिनके बाह्यक्रिया ही को, है अवलंब सदीव॥१२०॥

अर्थः—जो व्यवहारी मूढ़ नर हैं, वे पर्याय बुद्धि (अज्ञानी) जीव हैं, उनके सदैव बाह्य क्रिया का ही अवलंबन होता है।

इससे सिद्ध हुआ कि—व्यवहारी मूढ़ जीव, परालंबन से धर्म होता है—ऐसा मानते हैं; वे आत्मा के अवलंबन से धर्म होना नहीं मानते क्योंकि वे तो व्यवहार करते-करते धर्म होता है, ऐसा मानते हैं; इसलिये वे सदाकाल परावलम्बी होते हैं।

(२)

कुमती बाहिज दृष्टि सो, बाहिज क्रिया करंत।
माने मोक्ष परम्परा, मन में हरष धरन्त॥१२१॥

अर्थः—कुमति बाह्यदृष्टि से बाह्यक्रिया करते हैं और उससे परम्परा मोक्ष का होना मानते हैं, तथा मन में हर्ष धारण करते हैं॥१२१॥

यहाँ श्रद्धा—सच्ची मान्यता किसे कहा जाता है—वह समझाते हुए कहते हैं कि—व्यवहारमूढ़ जीव, मोक्षमार्ग एक ही है, ऐसा न मानकर, अपनी मानी हुई शुभक्रिया से परम्परा मोक्ष का होना मानते हैं। वह श्रद्धा—मान्यता मिथ्या होने के कारण छोड़ने योग्य है।

(३)

शुद्धातम अनुभौकथा कहे समकिती कोय।
सो सुनिके तासों कहे यह शिवपंथ न होय॥१२२॥

अर्थः—कोई सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्म-अनुभव की कथा कहे, उसे सुनकर (व्यवहार मूढ़ जीव) यह शिवपंथ नहीं होता—ऐसा कहते हैं।

यह कवित्त स्पष्ट है।

अज्ञानी व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं—ऐसा जो समयसार गाथा ३२४ से ३२७ के शीर्षक में तथा टीका में कहा है, उसकी सत्यता दृढ़ करने के लिये कलश २४३ के भावार्थ में बतलाया है कि:—

"जो द्रव्यलिंग में ममत्व द्वारा अंध हैं, उन्हें शुद्धात्मद्रव्य का अनुभव ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं; इसलिये परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं।"

यहाँ ऐसा स्पष्ट किया गया कि—अज्ञानी एक या दूसरे प्रकार से व्यवहार को ही अर्थात् व्यवहारनय के कथन को ही परमार्थ अर्थात् निश्चय कथन माने बिना नहीं रह सकते। वे परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं। वे जीवद्रव्य का—तत्त्व का अजीवद्रव्य से—तत्त्व से भेदज्ञान नहीं करते तो फिर उन्हें जीव और आस्रव का समयसार गाथा ६९-७० में कहे अनुसार भेदज्ञान तो हो ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि वे आत्मा और आस्रव—इन दोनों का अंतर तथा भेद नहीं जानते।

[१९]

प्रवचनसार गाथा १९०-१९१

श्री प्रवचनसार की १९० वीं गाथा इस संबंध में अत्यंत स्पष्ट है; उसके शीर्षक में कहा है कि—अशुद्धनय से (व्यवहारनय से) अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है। उस गाथा की टीका में व्यवहार से मोहित जीव का स्वरूप निम्नोक्त शब्दों में समझाया है:—

''जो आत्मा शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ (वह आत्मा) वास्तव में शुद्धात्मपरिणतिरूप जो श्रामण्य नामक मार्ग, उसे दूर से छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्ग का ही आश्रय करता है। इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही होती है॥१९०॥''

श्री प्रवचनसार की १९१ वीं गाथा में शुद्धनय से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति ही होती है, ऐसा निश्चित करने को कहा है। वहाँ व्यवहारनय संबंधी जो स्पष्टता की गई है, वह अत्यंत सुंदर है। उसमें कहा है कि—ज्ञानी व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहते हैं अर्थात् व्यवहारनय के और उसके विषय के वे व्यवहार से ज्ञातादृष्टा रहते हैं किंतु वह आश्रय करने योग्य है, ऐसा वे नहीं मानते। संक्षेप में कहें तो जिसप्रकार श्री समयसार में ज्ञानियों को व्यवहार का ज्ञाता-दृष्टा कहा है, किंतु उसके कर्ता-भोक्ता या स्वामी नहीं कहा। वही सिद्धांत यहाँ कहा है।

उस गाथा की टीका महत्वपूर्ण होने से नीचे दी है:—

''जो आत्मा, मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्ध द्रव्यनिरूपणात्मक (अशुद्धद्रव्य के *निरूपणस्वरूप) व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप

---

* *जहाँ-जहाँ व्यवहारनय का कथन हो वहाँ ''ऐसा नहीं है किंतु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है''—ऐसा जानना सो व्यवहारनय का अविरोधपना है। मध्यस्थ रहना अर्थात् मात्र उसका ज्ञाता-दृष्टा रहना—स्वाधीन रहना।*

निश्चयनय द्वारा ×मोह को दूर किया है, ऐसा वर्तता हुआ ''मैं पर का नहीं हूँ पर मेरे नहीं हैं''—इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामी संबंध को झाड़कर ''शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ''—इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके परद्रव्य से व्यावृत्त (भिन्नपने) के कारण आत्मारूपी एक अग्र में ही चिंता को रोकता है, वह एकाग्र चिंतानिरोधक (—एक विषय में विचार को रोकनेवाला आत्मा) है। एकाग्र चिन्तानिरोध के समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है ॥१९१॥''

श्री जयसेन आचार्य ने गाथा १९० की टीका में कहा है कि—व्यवहारनय द्वारा मोह (ममता) दूर नहीं किया जा सकता, तथापि उससे मोह दूर किया जा सकता है, ऐसा मानें अर्थात् व्यवहारनय में अविरोधरूप से मध्यस्थ न रहें, ऐसे जीवों को 'व्यवहार मोहित हृदय' रखनेवाला कहा है।

तत्पश्चात् गाथा १९१ की टीका में श्री जयसेन आचार्य बतलाते हैं कि:—

''×××उपादानकारणसदृशं कार्य—ऐसा वचन है, इससे सिद्ध होता है कि शुद्धनय से शुद्धात्म लाभ होता है।×××''

पंडित श्री बनारसीदासजी कृत श्री परमार्थ वचनिका

इस वचनिका में मूढ़ और ज्ञानी जीवों की विशेषता (अंतर) समझायी है। वहाँ ''अब मूढ़ और ज्ञानी जीव की विशेषता अन्य भी सुनिये''—ऐसे शीर्षक के नीचे जो बतलाया है, वह उपयोगी होने से नीचे दिया है। वे कहते हैं कि:—

(१) ''ज्ञाता तो मोक्षमार्ग को साधना जानते हैं, किंतु मूढ़ मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानते—किसलिये? वह सुनो:—

मूढ़ जीव *आगमपद्धति को व्यवहार कहते हैं और अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहते हैं; इसलिये वे आगम-अंग को एकांतरूप से साधकर मोक्षमार्ग दर्शाते हैं'', (''आगम अंग को एकान्त रूप से''—ऐसा जो पद है, उसका अर्थ ऐसा है कि चारित्र की आंशिक शुद्धि से भी रहित-हठवाले, महाव्रत-अणुव्रत, प्रतिमा-भक्ति-पूजा-दानादिरूप अज्ञानी के शुभभाव उन्हें

× *निश्चयनय द्वारा मोह को दूर किया जाता है—व्यवहारनय द्वारा नहीं। जो ऐसा नहीं मानता उसे (प्रवचनसार गाथा १९० में कहे अनुसार) व्यवहारनय से मोह उत्पन्न हुआ है ऐसा समझना।*

* *वे कहते हैं कि कर्मपद्धति पौद्गलिक द्रव्यरूप अथवा भावयप है। द्रव्यरूप तो पुद्गल के परिणाम हैं और भावरूप पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम हैं; (अर्थात् वे महाव्रत-अणुव्रतादि राग भाव तथा द्रव्यकर्म को व्यवहार कहते हैं। शुद्ध परिणति जो व्यवहार है, उसे अज्ञानी स्वीकार नहीं करते।) (बनारसी विलास)*

एकांतरूप से साधकर मोक्षमार्ग दर्शाते हैं, ऐसा कहा है। व्यवहार करते-करते निश्चय होता है—ऐसा कहो या आगम अंग को एकांतरूप से साधकर मोक्षमार्ग दर्शाते हैं—ऐसा कहो, यह दोनों एक ही भाव सूचक हैं।)

(२) ''अध्यात्म अंग को व्यवहार से भी न जाने—ऐसा मूढ़दृष्टि जीव का स्वभाव है। उसे ऐसा सूझेगा ही कहाँ से? क्योंकि आगम अंग बाह्यक्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसकी स्वरूप साधना उसे सरल है।

(३) वह बाह्यक्रिया करता हुआ मूढ़ जीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानता है, किंतु अंतर्गर्भित अध्यात्मरूप क्रिया जो अंतर्दृष्टि ग्राह्य है, उसे मूढ़ जीव नहीं जानता;

(४) क्योंकि अंतर्दृष्टि के अभाव से अंतरक्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती, इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव (चाहे जितनी बाह्यक्रिया करते हुए भी) मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है।''

(५) ''सम्यग्दृष्टि को स्व-पर स्वरूप में संशय, विमोह और विभ्रम नहीं है, यथार्थदृष्टि है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अंतर्दृष्टि द्वारा मोक्षपद्धति को साधना जानता है।

* * *

(६) वह बाह्य भाव को बाह्य *निमित्तरूप मानता है; वे निमित्त तो नाना प्रकार के हैं—एकरूप नहीं हैं; इसलिये ×अंतर्दृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधता है।

(७) सम्यग्ज्ञान (स्वसंवेदन) और स्वरूपाचरण की कणिका जागृत होने पर ××मोक्षमार्ग सच्चा है।

(८) मोक्षमार्ग को साधना, सो व्यवहार और शुद्धद्रव्य अक्रियारूप, सो निश्चय —इसप्रकार **निश्चय—व्यवहार का स्वरूप सम्यग्दृष्टि जानता है, किंतु मूढ़ जीव नहीं जानता और मानता नहीं है।

(९) मूढ़ जीव बंधपद्धति को साधता हुआ उसे मोक्षमार्ग कहे, वह बात ज्ञाता नहीं मानता; क्योंकि बंध को साधने से बंध सधता है किंतु मोक्ष नहीं सधता।''

---

* *धर्मी जीव को ही भलीभाँति व्यवहारमोक्षमार्ग होता है; वह बाह्य भाव है, इसलिये बाह्य निमित्तमात्र है। श्री पंचास्तिकाय गाथा १५९ की टीका में उसे भिन्न साध्य-साधन भाववाला व्यवहारनय कहा जाता है। भिन्न साधन कहो या बाह्य निमित्त कहो—दोनों एक ही है।*

× *अंतर्दृष्टि के प्रमाण में अर्थात् आत्मा के आश्रय से जितनी शुद्धता प्रगट करे, उतने प्रमाण में; किंतु व्यवहारमोक्षमार्ग के प्रमाण में नहीं क्योंकि वह बाह्य निमित्तरूप है।*

×× *यहाँ यह स्पष्ट किया है कि चौथे गुणस्थान में निश्चय मोक्षमार्ग प्रगट होता है अर्थात् शुरु होता है।*

** *''अविचलित चेतना विलासमात्र आत्मव्यवहार'' है;—ऐसा प्रवचनसार गाथा ९४, पृष्ठ १४७-१४८ में कहा है।*

टिप्पणी:—उपरोक्त पैराग्राफ नंबर १ से ९ बराबर अभ्यास करने योग्य हैं; मुमुक्षुओं को उनका भाव भलीभाँति समझ लेना चाहिये।

''श्री समयसार नाटक' के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में पंडित बनारसीदासजी व्यवहारी जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए निम्नानुसार कहते हैं:—

करणी के धरणी में महामोह राजा बसे,
करणी अज्ञानभाव राक्षस की पुरी है।
करणी करम काया पुद्गल की प्रतिछाया,
करणी प्रगट माया मिसरी की छुरी है।
करणी के जाल में उरझी रह्यो चिदानंद,
करणी की वोट ज्ञानभाव दुति दुरी है।
आचारज कहैं करणी सो व्यवहारी जीव,
करणी सदैव निहचै स्वरूप बुरी है॥९७॥

यहाँ ऐसा समझाते हैं कि—आचार्यदेव करणीवाले व्यवहारी जीव को समझाते हैं कि—करणी सदैव निश्चयस्वरूप (सच्चा स्वरूप) देखते हुए बुरी है; व्यवहार विमोहित जीव करणी को भला मानते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि—इसप्रकार व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होगा। ऐसी विपरीत मान्यता के कारण उसे सच्ची श्रद्धा नहीं होती और इसलिये उसे कभी निश्चय प्रतिक्रमण-निश्चय आलोचना तथा निश्चय प्रत्याख्यानरूप निश्चयचारित्र प्रगट नहीं होता।

★ ★ ★

आतम अनुभव

हम लागे आतमरामसों विनाशीक पुद्गल की छाया,
कौन रमें धन धाम सों हम लागे आतमरामसों,
समता सुख घट में परगास्यो कौन काज है कामसों।हम०॥
दुविधाभाव जलांजुलि दीनो मेल भयो निज स्वाम सों।हम०॥
भेदज्ञान कर निजपर देख्यो कौन विलोके चामसों।हम०॥
उरे परे की बात न भावे लौ लायी गुणग्राम सों।हम०॥
विकलपभाव रंग सब भाजे झरि चेतन अभिरामसों।हम०॥
'द्यानत' आतम अनुभव करिके छूटे भवदुःख धामसों।हम०॥

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

(अंक २०० से आगे)

इस 'समाधिशतक' के रचयिता श्री पूज्यपादस्वामी लगभग चौदह सौ वर्ष पहले हो गये। महान दिगम्बर संत हैं; उनका दूसरा नाम 'देवनन्दि' था; वे विदेहक्षेत्र में सीमंधर भगवान के पास गये थे ऐसा उल्लेख शिलालेखों में है। उन्होंने 'तत्त्वार्थ-सूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका तथा जैनेन्द्र व्याकरण आदि महान ग्रंथों की रचना की है। उनकी अगाधबुद्धि के कारण योगियों ने उन्हें 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहा है।—ऐसे महान आचार्य द्वारा रचे गये 'समाधिशतक' के यह प्रवचन हैं।

'आत्मधर्म' के अनेक जिज्ञासु पाठकों की माँग सरल लेखों की होने के कारण यह लेखमाला प्रारम्भ की गई है। यह प्रवचन अध्यात्मरस से भरपूर होने पर भी सरल हैं और आसानी से समझ में आ सकते हैं। परिणामतः यह लेखमाला पाठकों को रुचिकर सिद्ध हुई है।

ज्ञानी को अपने आत्मा की ही प्रीति तथा आत्मा का ही विश्वास है; संयोग में वे स्वप्न में भी सुख नहीं मानते—ऐसा गाथा ४९ में कहा है। अब, वहाँ प्रश्न होता है कि—यदि ऐसा है तो भोजनादि कार्यों में ज्ञानी की प्रवृत्ति क्यों दिखाई देती है ? उसके उत्तर में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि:—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

धर्मात्मा ज्ञानी आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य को अपनी बुद्धि में चिरकाल तक धारण नहीं करते; आत्मस्वभाव की भावना छोड़कर किसी भी कार्य में वे युक्त नहीं होते; आत्मा की भावना एक क्षण भी नहीं छूटती। अस्थिरता के कारण प्रयोजनवश शरीर-वाणी की किंचित्

चेष्टा में युक्त होते हैं, किंतु उसमें वे अतत्पर हैं; उन्हें उसकी भावना नहीं है; उसमें वे ज्ञान-आनन्द नहीं मानते; इसलिये उससे वे अनासक्त हैं।

धर्मी को आत्मा के ज्ञान-आनन्द का विश्वास है और उसी में उनकी रति है। शरीरादि बाह्य विषयों में आत्मा का ज्ञान या आनन्द नहीं है, इसलिये धर्मी उसका विश्वास या रति नहीं करते। ज्ञान-आनन्द के लिये किसका विश्वास करना—उसकी यह बात है।

सम्यक्त्वी अंतरात्मा को अपने ज्ञानस्वरूप की प्रतीति हो गई है; तदुपरांत निर्विकल्प अनुभव में आनन्द का स्वाद भी चखा है; अनंत काल से बाह्य-विषयों में जिस स्वाद का वेदन कभी नहीं हुआ था—ऐसे अपूर्व स्वाद का वेदन अनुभव में हुआ; इसलिये अब धर्मी, बाह्य विषयों से छूटकर चैतन्यस्वरूप में ही स्थिर रहना चाहते हैं; बारंबार उसी का प्रयत्न करते हैं; अस्थिरता को बढ़ाना नहीं चाहते; बाह्य विषय उन्हें नहीं सुहाते और जहाँ मुनिदशा हो, वहाँ तो निर्विकल्प अनुभव में बारंबार स्थिर होते हैं; मुनि की परिणति दीर्घकाल तक बाह्य में नहीं रहती... वे तो स्वरूप में ही तत्पर हैं; आहार-उपदेश आदि की क्रियाओं में अतत्पर हैं... तत्संबंधी विकल्प आये तो उसे बढ़ाते नहीं हैं, किंतु उस विकल्प को तोड़कर बारंबार निर्विकल्पस्वरूप का अनुभव करते हैं।

चौथे गुणस्थानवाला सम्यक्त्वी अंतरात्मा भी रागादि में और विषयों में अतत्पर हैं; क्योंकि उसमें सुख नहीं माना है। राजपाट हो, रानियाँ हों, खाते-पीते हों, तथापि अंतर के चैतन्यसुख की प्रीति के समक्ष वे किन्हीं भी बाह्य विषयों में या राग में तत्पर नहीं होते... कब यह राग तोड़ूँ और कब अपने आनन्द में स्थिर होऊँ—यही एक भावना है। यद्यपि अभी अस्थिरता होने से राग होता है, और मन-वाणी-देह की क्रियाओं पर लक्ष जाता है, किंतु उनमें कहीं ऐसी एकाग्रता नहीं होती कि अपने ज्ञान-आनन्द को भूल जायें और बाह्य में आनन्द मानें। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ज्ञानी राजपाट में विद्यमान हैं, खाते-पीते हैं, बोलते हैं; इसलिये उसी में तत्पर हैं; किंतु ज्ञानी के अंतरंग-परिणाम, विषयों से और राग से कैसे पार हैं, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं होती.... चैतन्यसुख का जो स्वाद ज्ञानी के वेदन में आया, उस स्वाद की अज्ञानी—विषयलुब्ध प्राणी को बेचारे को गंध भी नहीं है... इसलिये वह ज्ञानी को अपनी दृष्टि से देखने जाता है, किंतु ज्ञानी की वास्तविक दशा को वह नहीं जानता।

मुनि ध्यान में आत्मा के आनन्द में लीन हों और कोई सिंह आकर शरीर को फाड़ रहा हो... वहाँ बाह्यदृष्टि मूढ़ प्राणी को तो ऐसा लगता है कि—'अरेरे! यह मुनि कितने दुःखी हैं!!' किंतु मुनि

के अंतर में तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अधिक आनन्दरस की धारा उल्लसित हुई है... सिद्ध भगवान जैसे परम आत्मसुख में वे लीन है... यहाँ तो अभी शरीर को सिंह खा रहा है और वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द में लीनतासहित, एकावतारीरूप से शरीर छोड़कर वे मुनि तो सिद्ध के पड़ोस में सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं ! सिद्धशिला से सर्वार्थसिद्धि मात्र बारह योजन दूर है।

संयोग या राग में सुख मानकर धर्मी उसमें अपने आत्मा को नहीं झुलाते, किंतु वे तो आत्मा का विश्वास करके उसी के आनन्द में आत्मा को झुलाते हैं। स्वरूप के आनन्द से बाहर निकलना तो प्रमाद और दु:ख है। व्यवहार में तो ऐसा कहा जाता है कि—जो तीर्थयात्रा न करे, वह आलसी है। शांतिनाथ भगवान की माता अचिरादेवी से गर्भ-कल्याणक के समय देवियाँ विनोदपूर्वक प्रश्न पूछती हैं कि—हे माता ! सच्चा आलसी कौन है ? तब माताजी उत्तर देती हैं कि—जो तीर्थयात्रा न करे और विषयों में ही लीन रहे वह।—इसप्रकार वहाँ व्यवहार में ऐसा कहा जाता है; किंतु परमार्थ से तो चिदानन्दस्वरूप के अनुभव में से बाहर निकलना, वह प्रमाद है-आलस है। चैतन्यानन्द के अनुभव में लीन संत उसमें से बाहर निकलने के आलसी हैं... क्योंकि आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त उन्हें अन्यत्र कहीं सुख भासित नहीं होता।

इस जड़ शरीर को या उसकी क्रिया को धर्मी अपने चित्त में धारण नहीं करता; वह तो ज्ञान-आनन्दमय अपनी चैतन्य काया को ही धारण करता है। यह शरीर-मन-वाणी मैं नहीं हूँ, मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, उनका करानेवाला या अनुमोदन करनेवाला नहीं हूँ, उनसे सर्वथा भिन्न ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही हूँ।

हुं देह नहि, वाणी न, मन नहि, तेमनुं कारण नहीं,
कर्ता न कारयिता न, अनुमंता हुं कर्तानो नहीं॥५०॥

—इस प्रकार धर्मी अपने आत्मा की ही भावना में तत्पर है, अनासक्त अंतरात्मा अपनी बुद्धि में आत्मज्ञान को धारण करता है और शरीरादिक को धारण नहीं करता।—यह किस प्रकार ? सो कहते हैं।

❀ ❀ ❀

[गाथा-५१]

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥५१॥

धर्मात्मा, शरीरादिक से भिन्न अपने आत्मा की ऐसी भावना भाता है कि—इन्द्रियों द्वारा जो दृष्टिगोचर होता है, वह मैं नहीं हूँ; मेरा स्वरूप तो परम उत्तम ज्ञानज्योति है और आनन्दसहित है—परम प्रसन्नतारूप जो परमार्थ सुख, उससे युक्त है; मैं अपने ऐसे स्वरूप को अंतर में देखता हूँ; इन्द्रियों को बाह्यविषयों से हटाकर अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा मैं अपने आत्मा को देखता हूँ—अनुभव करता हूँ और इसके अतिरिक्त समस्त बाह्य विषयों के प्रति अनासक्त हूँ।

इन्द्रियों द्वारा बाह्य में जो दृष्टिगोचर होता है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। इन्द्रियों द्वारा शरीरादि दिखाई देते हैं, वे तो जड़ हैं; वह कहीं आत्मा नहीं है; आत्मा इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता; आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय है और वह अतीन्द्रिय ज्ञान से ही दिखाई देता है।—धर्मात्मा अपने ज्ञान को विषयों से विमुख करके अंतर में अपने स्वरूप की ओर उन्मुख करता है; इसलिये वह बाह्य विषयों में अनासक्त है।

जो परद्रव्य को अपना माने या पर से अपने को सुख-दुःख माने, उसे सचमुच अनासक्ति भाव होता ही नहीं; उसे तो पर के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अनंत आसक्ति है। धर्मी तो अपने आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न जानकर आत्मोन्मुख हो गये हैं और आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्वप्न में भी आनन्द भासित नहीं होता; इसलिये उन्हीं को समस्त बाह्य विषयों के प्रति सच्ची अनासक्ति होती है।

मैं तो आनन्दसहित ज्ञानज्योति हूँ, अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है.... आनन्दधाम आत्मा ही मेरे विश्वास का एवं विश्राम का स्थान है... ऐसे अपने तत्त्व को मैं अंतर में आनन्दसहित देखता हूँ। आनन्द से परम प्रसन्न ऐसा मेरा आत्मा ही मेरे विश्राम का धाम है;—इसप्रकार सम्यक्त्वी अपने आत्मा की भावना करते हुए उसी की आराधना करते हैं; उन्हें अपने आत्मस्वरूप का चिंतन ही सुखकर प्रतीत होता है और इन्द्रिय-विषय दुःखकारी लगते हैं; इसलिये वे धर्मात्मा अपनी बुद्धि में आत्मा को ही धारण करते हैं ॥५१॥

पुण्य-पाप के भाव आकुलतामय-दुःखरूप हैं

(समयसार कर्ताकर्म अधिकार गाथा ७२ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन)

[जामनगर, माघ शुक्ला ११, वीर संवत् २४८७]

सम्यग्दर्शन वीतराग की भक्ति है। जो पूर्ण वीतराग परमात्मा हुए हैं, उन्हें जाननेवाला भगवान का भक्त है। पाप से बचने के लिये पुण्य, दया, दान के भाव आते हैं, तथापि उन्हें श्रद्धा में कर्तव्य नहीं मानते, किंतु हेय मानते हैं; क्योंकि पुण्य-पाप दोनों ज्ञानस्वभाव के विरोधी हैं, दुःख के कारण हैं। पुण्य की रुचिवाले को यह बात नहीं जमती; किंतु स्वाश्रयरूप निश्चयदृष्टि से देखने पर—मेरा स्वभाव नित्यानंद पवित्र सुखदाता है और पुण्य-पाप आस्रव वास्तव में दुःख हैं, उपाधि है—ऐसा जानते ही असली स्वभाव की रुचि द्वारा अंतर से उनकी (पुण्य-पाप की) रुचि छूटने लगती है; इतना जाननेमात्र से ही अनंत संसार का कारण मिथ्यात्व दूर हो जाता है।

ज्ञायकस्वभाव सुखदाता है और पुण्य-पापादि आस्रव दुःखदाता है—ऐसा जो जान ले, वह फिर गृहस्थदशा में क्यों रहेगा?

तीर्थंकर चक्रवर्ती के छियानवे करोड़ पैदल सेना होती है; अनेक रानियों का सहवास होता है, तथापि अंतर से परिपूर्ण उदास रहते हैं। श्रद्धा में, ज्ञान में तथा अंशतः स्वरूपाचरणचारित्र में निरंतर सबसे रागरहित वर्तते हैं; तथापि चारित्र की निर्बलता के कारण गृहस्थदशा में रहते हैं; शुभाशुभभाव होने पर भी उन्हें आकुलता उत्पन्न करनेवाला मानते हैं। चौथे गुणस्थान में बारह प्रकार का असंयम है; क्रोधादि सर्व कषायों का अभाव नहीं किया है, तथापि रुचि तो अंतर में शुद्ध-चिदानंद साक्षी पर है, इसलिये वे बाह्य में अथवा रागादि आस्रवों में स्थित नहीं है किंतु अंतरंग रुचि में ही स्थित है; प्रतिक्षण संसार को तोड़कर स्वभाव में वृद्धि को देखते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! धैर्य पूर्वक देख! शांति—सुख तुझमें ही है; अनंत काल में यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। जिसप्रकार सुई में डोरा पिरोया हो तो वह खोती नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी डोरा पिरोकर यदि निश्चय श्रद्धा न की तो आत्मा चौरासी के चक्कर में खो जायेगा। लोग सम्यक्त्व को सस्ता बतलाते हैं; लेकिन क्या एक लाख का हीरा पाँच पैसे में मिल सकता है? उसकी तो पूरी कीमत देना पड़ती है। इसप्रकार आत्मा में तीव्र जिज्ञासापूर्वक अपूर्व प्रयत्न करना पड़ता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों महान रत्न हैं। नीचे पुण्य-पाप हों किंतु वे अंतर-स्वरूप में नहीं हैं; ध्येय में, रुचि में श्रद्धा में नहीं हैं—ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं;—इसप्रकार प्रथम त्रैकालिक निर्विकार विज्ञानघनस्वभाव की रुचि करके श्रद्धा करे, तभी से पुण्य-पाप के भाव आकुलता-दु:ख हैं—ऐसा भेदज्ञान होता है, धर्म का प्रारम्भ होता है और अनादिकालीन आस्रव तथा कर्मों का बंध अटक जाता है।

स्त्री-पुत्र-धनादि संयोग, शरीर में रोगदशा—यह कहीं सुख-दु:ख के कारण नहीं है; वे तो ज्ञेय हैं—ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य हैं। अंतर में निर्विकारी सिद्ध परमात्मस्वभाव विद्यमान हैं। पीपर के दृष्टांतरूप से अंतर में पवित्र स्वभाव है, वह मैं हूँ और क्षणिक विकार, वह विपरीत है; पुण्य-पाप दोनों खेद हैं—पीड़ा हैं, इसलिये वह मेरा स्वरूप नहीं है, आदर करने योग्य नहीं है।—ऐसा भाव भासनरूप निर्णय न करे, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

यह बात सूक्ष्म है, आत्मा सूक्ष्म—अरूपी, अतीन्द्रिय ज्ञान—आनन्दमय है, वह विकल्प या वाणी से नहीं पकड़ा जा सकता। पुण्य-पाप के भाव स्थूल हैं, आकुलता लक्षण दु:ख है और भगवान आत्मा सदा निराकुल आनन्दरूप है।

शुभराग, कारण और आत्मा की शुद्धदशा, कार्य हो—ऐसा नहीं है तथा आत्मा, कारण और राग, कार्य हो, ऐसा भी नहीं है। रागादि आस्रव जड़ हैं, इसलिये वे स्व-पर को नहीं जानते। जिसप्रकार हाथ शरीर का अवयव है; और यहाँ जीव के ज्ञानगुण का विकास स्पर्श को जाननेवाला है; इसलिये हाथ लगाकर देखने से शरीर ठंडा है या गर्म वह ज्ञात होता है; किंतु लकड़ी या बढ़े हुये नाखून से वह ज्ञात नहीं होता क्योंकि वह तो चेतनरहित भिन्न जाति है। उसीप्रकार शुभाशुभ (पुण्य-पाप) भाव सब अचेतन हैं; उनमें स्व-पर को जानने की शक्ति नहीं है। पुण्य-पाप तो बढ़े हुए नाखून के समान मैल हैं, निकाल देने योग्य हैं; इसलिये उनमें आत्मा का धर्म नहीं है; धर्म का कारण होने का उनमें किंचित् सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि वह आस्रवतत्त्व है; मैल है; उसमें आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र किंचित् भी नहीं है। इसलिये पुण्य-पाप के भाव द्वारा रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) प्राप्त नहीं होता।

आत्मा पूर्ण ज्ञायक चैतन्यप्रकाश है; उसका वर्तमान ज्ञान अल्प विकसित है, उस ज्ञान विकास को क्षायोपशमिकज्ञान कहते हैं; तथापि वह आत्मा के पूर्णज्ञान का अंश है; चैतन्य की जाति है; इसलिये उस ज्ञानांश को अंतरोन्मुख करने से परमानन्दरूप स्वभाव भासित होता है और

पुण्य-पाप उससे विरुद्ध जड़रूप-दुःखरूप भासित होते हैं।—इसप्रकार आत्मा के अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

निमित्त और पुण्य-पाप के भावों की ओर ढलने से दुःख का अनुभव होता है;—ऐसा जानकर सदैव निराकुल स्वभाव भगवान आत्मा की दृष्टि द्वारा अंतरोन्मुख हो तो परमानन्द स्वभाव वास्तव में सुखदाता है—ऐसा अनुभव होता है।

जो आत्मा को समझने के लिये श्रवण, मनन तथा अभ्यास नहीं करता, उसे आत्मा क्या, पुण्य-पाप-आस्रव क्या, तथा सुखदाता और दुःखदाता कौन है ? उसका निर्णय नहीं होता।

जिसप्रकार कच्चे चने में शक्तिरूप से मिठास भरी हुई है; उसीप्रकार आत्मा में परिपूर्ण आनन्द है; शुभाशुभभावों में जरा भी आनन्द नहीं है। भक्ति में राग है। ज्ञानी को भी निचलीदशा में पाप से बचने के लिये भगवान की भक्ति का शुभराग आता है किंतु वे उसे आकुलता मानते हैं।

छट्ठे गुणस्थान तक मुनि को भी बुद्धिपूर्वक चारित्र में राग आता है। श्रद्धा में तो चौथे गुणस्थान से बराबर निर्णय है कि शुभराग भी दुःख है—कलंक है; आत्मा की निर्मलप्रजा (दशा) का घातक है; चैतन्य की जागृतिरूप प्रजा (स्वभावपर्याय) का उत्तराधिकारी बनने की शक्ति उसमें नहीं है। इसप्रकार त्रैकालिक स्वभाव में वर्तमान विभाव की पृथकता जानने से आत्मा में एकाग्रदृष्टि प्रकट होती है और उसी समय अनंत परिभ्रमण का कारण ऐसा मिथ्यात्वभाव तथा कर्म बंध नष्ट होता है।

संवत २००२ की साल में इंदौर से सर सेठ हुकमचन्दजी सोनगढ़ पधारे थे; उनके गले में तीस लाख के मूल्य का नीलम का हार था। अब यदि बालक नीम की निबोली को ही इन्द्रनीलमणि मानें तो वह उसका कोई मूल्य हो सकता है ? जिसप्रकार निबोली नीलमणि में नहीं खप सकती, उसीप्रकार पुण्य-पाप के भाव भी कड़वी निबोली के समान आकुलतामय हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव जो आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले हो गये हैं, उन्होंने ऐसी स्पष्ट बात कही है। मद्रास शहर से अस्सी मील दूर पोन्नूर हिल पहाड़ है; वहाँ श्री कुंदकुंदाचार्यदेव आत्मध्यान में लीन रहते थे।

एकबार ध्यान में वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान श्री सीमंधर भगवान का चिंतवन करते हुए विरह लगा कि—अरे! इस काल साक्षात् परमात्मा का समागम नहीं है। उनके

पुण्य और पवित्रता का ऐसा योग था कि वहाँ विदेहक्षेत्र के समवसरण (धर्मसभा) में तीर्थंकर भगवान के मुखारविंद से शब्द निकले—'सद्धर्मवृद्धि अस्तु'। उन्हें साक्षात् श्रवण करनेवाले देवों ने आकर आचार्य को समाचार दिये। उन्हें आकाश में गमन करने की ऋद्धि तो थी ही; इसलिये महाविदेहक्षेत्र में पहुँचे और वहाँ आठ दिन तक रहकर साक्षात् तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण किया। श्रुतकेवलियों का परिचय प्राप्त करके भरतक्षेत्र में लौटे और गुरुपरम्परा तथा तीर्थंकरदेव से साक्षात् प्राप्त हुए ज्ञान के अनुसार श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि परमागमों (शास्त्रों) की रचना की। उनमें से श्री समयसार-कर्ता कर्म अधिकार में तो अद्भुत रचना की है! सत्समागम से श्रवण, मनन तथा अध्ययन करे तो निहाल हो जाये।

पुण्य-पाप तो जल में सेवार (काई) की भाँति मैल हैं, चैतन्य से विरुद्ध हैं; उदयभाव हैं, अशुद्धता उत्पन्न करते हैं; इसलिये संसार दुःख के कारण हैं।—इसप्रकार शुभभाव भी शांति का-आत्मधर्म का कारण नहीं है किंतु नित्य चिदानंदस्वभावी यह आत्मा ही सच्ची शांति-सुख (धर्म) का कारण है। मैं ऐसा निर्मलस्वभावी हूँ—ऐसी श्रद्धा करते ही मिथ्यात्वरूपी आस्रवों से मुक्त होता है।

यहाँ किसी को प्रश्न उठे कि—धर्मी ऐसा समझते हुए भी पूजा, भक्ति, भगवान की प्रतिमा की स्थापना आदि पुण्यभाव क्यों करते हैं?—किंतु श्रद्धा-ज्ञान निर्मल (सम्यक्) होने पर भी जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक राग आये बिना नहीं रहता। मुनिदशा में भी अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पाँच महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों के शुभभाव आते हैं, वह राग है, उदयभाव है और उसे 'तत्त्वार्थ सूत्र' में बंध का कारण (आस्रवतत्त्व) कहा है; अज्ञानी उसे धर्म और धर्म का कारण मानते हैं, वह अनादिकालीन भ्रम है, अविकारी स्वभाव का तिरस्कार है।

आत्मा का लक्षण शुभाशुभ विकार नहीं है; आत्मा विकार का कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो अशुद्धता, कारण और शुद्धता उसका कार्य हो, किंतु ऐसा नहीं है। संवत् २०१३ में श्री सम्मेदशिखर की यात्रा को गये थे; वहाँ व्याख्यान में जब यह तीसरा बोल आया कि—"महाव्रत शुभराग है; आस्रव है; दुःख का कारण है; आत्मशांति का कारण नहीं है।" यह सुनते हुए एक पंडितजी को बहुत बुरा लग रहा था, लेकिन 'तत्त्वार्थसूत्र' में उसे आस्रव कहा है; बंध का कारण धर्म का (सुख का) कारण कैसे हो सकता है?

किसी को सत्यश्रवण रुचता नहीं है और कोई सत्य का आदर करता है, कोई उसके प्रति

अपूर्व उत्साहित होता है। हीरे को सान पर चढ़ाने से जो रज निकलती है, उसका भी बहुत मूल्य होता है; उसीप्रकार आत्महित की—अध्यात्मरस की सत्य बात प्रीतिपूर्वक सुने कि—पुण्य-पाप तो आकुलता ही है, भगवान आत्मा तो सदा पवित्र सुखदाता अनाकुल है, उसका स्वीकार करने (आदर करने) पर भी अपूर्व पुण्य का बंध होता है।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने 'एकत्व सप्तति' में कहा है कि—मेरा स्वभाव पूर्ण ज्ञानानंद आदि पवित्र स्वभावरूप है—पुण्य-पापादि विरुद्धभावरूप नहीं है;—इसप्रकार जिसने प्रसन्नतापूर्वक यह चैतन्यस्वभाव की बात भी सुनी है, वह भव्य जीव भावी निर्वाण का भाजन (पात्र) है।

असंख्य प्रकार के पुण्य-पाप के भाव हैं, वे सब दुःख दाता हैं; जब जीव उन्हें करे, उसी समय उतनी ही आकुलता का वेदन करता है और उसके निमित्तरूप से परभव-परलोक में चार गति के शरीर धारण करना पड़ते हैं। जो पूर्वभव को नहीं मानता, पुण्य-पाप में सुख मानता है, वह अध्यात्म की बात को असत्य मानता ही है।

नर्क लोक का प्रमाण क्या?—तो कहते हैं कि—जिसे निरंतर क्रूरता है, जो हिंसावादी है; स्वयं को प्रतिकूल भासित हों, ऐसे अनेकों मनुष्यों की हत्या जिसने की हो;—ऐसे पुरुष को उस हिंसा के समान फल देने की व्यवस्था इस लोक में नहीं है। यहाँ तो सबूत मिले और पाप का उदय हो तो उसे एक बार ही फाँसी की सजा दी जा सकती है; हजारों बार तो फाँसी होती नहीं है; तो क्या प्रकृति के नियम में पापों का पूरा फल देने की व्यवस्था नहीं होगी?—अवश्य है; और वह है नर्क क्षेत्र। जिसके अमर्यादित संख्या में दूसरों को मारने के क्रूर भाव वर्तते हैं; जीवन भर अपनी सुविधा के लिये दूसरों का घात करने के भाव हैं; उनमें संख्या, काल या क्षेत्र का अंतर नहीं डाला है, उसका फल इस लोक में नहीं है; किंतु जहाँ बिना किसी अंतर के दस हजार वर्ष से लेकर असंख्य अरब वर्षों तक एक समान प्रतिकूलता ही है; शरीर के टुकड़े-टुकड़े होने पर जहाँ पारे की भाँति वह फिर से जुड जाता है—ऐसा क्षेत्र, निरंतर प्रतिकूलता का स्थान नर्क लोक (अधःलोक) इस पृथ्वी के नीचे है।

तिर्यंच-पशु आड़े शरीरवाले प्राणियों को कहते हैं। कपट-माया करे उसके फल में तिर्यंच गति प्राप्त होती है, वहाँ भी अज्ञानवश अनंत बार आ जाये। वर्तमान में याद नहीं आता, तो क्या तू वहाँ नहीं था? 'यह भव मीठा, परभव किसने दीठा;'—इसप्रकार धृष्टता करके कहता है कि—आगे जो होना होगा सो होगा, उसकी कौन चिंता करे... सत्य समझने की माथापच्ची किसलिये?

—तो जिसप्रकार नदी में बाढ़ का पानी तेजी से चला आ रहा हो और कोई व्यक्ति बीच धार

में खड़ा हो; वहाँ कोई उसे समझाये कि—भाई! हट जाओ वहाँ से! और वह अभिमानी न हटे तो क्या होगा? उसीप्रकार जो सत्य समझने की परवाह नहीं करते और कदाचित् सुनें तो आत्महित में सावधान नहीं होते, वे सब उसी अभिमानी के समान हैं।

कोई कहे कि—जो आँखों से दिखाई देगा वही मानेंगे। दियासलाई में शक्तिरूप से अग्नि है, किंतु दिखाई नहीं देती, तो क्या वह शक्ति उसमें नहीं है? हाथ लगाने से वह ठण्डी मालूम होगी, आँखों से भी नहीं दिखेगी; किंतु ज्ञान द्वारा निर्णय करे तो अग्नि प्रगट होने से पूर्व ही उसके सिरे में जो अग्निरूप होने की शक्ति भरी है, वह स्पष्ट ज्ञात होती है। उसीप्रकार आत्मा में बाह्य भाग को देखे तो पुण्य-पाप-रागादि और अल्पज्ञता ही दिखाई देती है; उसके आश्रय से पूर्ण स्वभाव का विश्वास नहीं होता; परमात्मशक्ति की महिमा नहीं आती; किंतु वर्तमान व्यक्त ज्ञान द्वारा जो पर में भला-बुरा मानकर दु:खी होता है, वही ज्ञान तत्त्वज्ञान द्वारा स्वभाव-विभाव का भेद समझकर अंतरोन्मुख हो कि यह विचार करनेवाला कौन है? आकुलता-दु:ख प्रतिक्षण बदलते रहते हैं; दूर होते रहते हैं, किंतु उनका ज्ञाता तो वही का वही है; वह कहीं दु:खरूप नहीं है।—इसप्रकार भेद जानने पर जो ज्ञान, राग में अपनत्व मानता था—कर्तव्य मानता था, वह अंतरोन्मुख होने से अतीन्द्रिय सु:ख का स्वाद लेता हुआ आत्मा की प्रसिद्धि करता है।

ज्ञानशक्ति की अद्‌भुत महिमा है। सौ वर्ष की उम्रवाला नव्वे वर्ष की बात क्षण में याद कर लेता है; वहाँ पन्ने नहीं उलटने पड़ते। वह स्मरणशक्ति (ज्ञान का विकास) तो अति अल्प है; उसके पीछे ज्ञान की अपार त्रैकालिक ध्रुवशक्ति विद्यमान है; उसे भूलकर पुण्य-पाप के विकार को कर्तव्य मानकर, भला जानकर स्वभाव को भूला हुआ है; वहाँ से विमुख होकर पूर्ण ज्ञाताशक्ति का विश्वास लाकर, वर्तमान ज्ञान को अंतरोन्मुख करे तो पूर्ण स्वभाव की दृष्टि और अतीन्द्रिय सुख स्वभाव का अनुभव किया जा सकता है।

जो पानी अग्नि के संबंध से गर्म हुआ है, वह बदल जाये—विमुख हो जाये तो अग्नि को कीचड़ बनाकर अपने आप ठंडा हो जाता है। उसीप्रकार मैं त्रिकाली निर्मल ज्ञाता हूँ; विकार (पुण्य-पाप) मैं नहीं हूँ;—ऐसा समझकर स्वभाव की पूर्ण शक्ति का आदर करे—आश्रय करे तो उसी क्षण अनादिकालीन मिथ्यात्व मोह का नाश हो जाता है और तभी से वह जीव सुखी होता है।

कोटि वर्ष का स्वप्न ज्यों, जागृत हुए समाय;
त्यों विभाव अनादि का, ज्ञान होत मिट जाय।

आत्मज्ञान की महिमा

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

भगवान कहते हैं कि तू एक आत्मा है; अरिहंत भी आत्मा हैं। भगवान कैसे हैं ?''सव्वणूणं सव्वदरिसिणं'' अर्थात् हे भगवान! आप सर्व के देखने-जाननेवाले हो। किसी का कुछ करनेवाले नहीं हो और न किसी पर राग-द्वेष करनेवाले हो। ऐसे भगवान कहाँ से हुए ? आत्मा में वैसी शक्ति थी, उसे प्रगट करके भगवान हुए। प्रत्येक आत्मा में ऐसी शक्ति है।

सीमंधर भगवान इस समय अरिहंत हैं, और महावीर स्वामी इस समय सिद्ध हैं; उनके मन नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं, पुण्य-पाप नहीं, किंतु सब जानने-देखनेवाले हैं। शरीर, मन, वाणी आत्मा के नहीं हैं, इससे वह पृथक् हो जाते हैं, यदि वे आत्मा के हों तो पृथक् नहीं हो सकते। राग-द्वेष भी आत्मा के नहीं हैं; यदि वे आत्मा के हों तो फिर भगवान के आत्मा में से कैसे दूर हों ? जीव तो ज्ञान-दर्शनवाला है, ऐसे जीव को जानना चाहिये।

जैसे—स्वर्ण में जो ताँबे का भाग है, वह स्वर्ण से भिन्न जाति का है। उसीप्रकार आत्मा में जो राग-द्वेष दिखाई देते हैं, वह उसका स्वरूप नहीं है, इससे वे आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जैसे तिल में तेल और उसका कूचा पृथक् है, गन्ने का रस और छिलका पृथक् है, इससे वह यथार्थ प्रतीति के द्वारा पृथक् हो जाता है। यह शरीर तो गन्ने के कूचे की भाँति है, भीतर चैतन्यरस पृथक् है।

भगवान की स्तुति में कहते हैं कि 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' अर्थात् हे भगवान! मुझे उत्तम समाधि का वर दो। समाधि किसे कहते हैं ? आत्मा का भान करके उसमें स्थिर हो, उसका नाम समाधि है। भगवान कहीं किसी को समाधि नहीं देते, किंतु आत्मा स्वत: पहिचान करके भगवान की विनय करते हैं। प्रथम आत्मा का भान होने से सम्यग्दर्शन होता है, वह समाधि है। ऐसा सम्यग्दर्शन गृहस्थदशा में रहनेवाले-भरत चक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, पांडव, रामचंद्रजी इत्यादि को था। जीवों ने अनंत काल में एक क्षणमात्र को भी ऐसा आत्मभान नहीं किया; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप करके चारों गतियों के अनंतभव धारण किये, पुण्य करके स्वर्ग में अनंत बार गया, किंतु उससे धर्म नहीं हुआ।

जिसे वीतरागदेव सम्यग्दर्शन कहते हैं, उसकी यह बात है। मुनि होने से पूर्व और श्रावक होने से पूर्व आत्मभान कैसा होता है ? उसकी यह बात है। श्रेणिक राजा को ऐसा ज्ञान था, इससे वे

भविष्य में तीर्थंकर होंगे। इस समय नरक में होने पर भी ऐसा भान है। आत्मा, देह से पृथक् है और पुण्य-पाप से पार ज्ञानमूर्ति है—ऐसा भान यदि एक क्षणमात्र ही करे तो भव कट जाये।

यथार्थ प्रतीति होने के पश्चात् राग होता है, किंतु शरीर का मैं कर सकता हूँ—ऐसा वह नहीं मानते। राग को अपना स्वरूप नहीं मानते। हमारा आत्मा रागरहित ज्ञान-आनन्दस्वरूप है—ऐसा भान है, उन्हें चौथे गुणस्थान की समाधि है। जीव ने अनंत काल में एक क्षण भी ऐसे सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं की है। अनंत काल में यह मनुष्यभव मिलता है, उसमें यही करने योग्य है।

जैसे भगवान सबके ज्ञाता हैं, किंतु उनके राग-द्वेष नहीं है, उसीप्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता है, उसके राग-द्वेष हो भले; किंतु वह राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञाता हूँ—ऐसा भान करे तो सम्यग्दर्शन होता है। श्रेणिक राजा के व्रत नहीं थे, त्याग नहीं था, तथापि तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया; यह किसका प्रताप ? उन्हें सम्यग्दर्शन था, उसके प्रताप से आनेवाली चौबीसी में जगतपूज्य प्रथम तीर्थंकर होंगे।

ज्ञान आत्मा में भरा हुआ है; कहीं शास्त्र के पन्नों में ज्ञान नहीं है, वह तो जड़ है। जैसे नमक की डली में खारापन भरा हुआ है, उसीप्रकार आत्मा में ज्ञान भरा हुआ है। पुण्य-पाप हो, वह भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है—ऐसा समझे तो सम्यग्ज्ञान है। ऐसा सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् पूजा-भक्ति का शुभभाव आता है और भोगोपभोग का अशुभभाव भी आता है, किंतु ज्ञानी जानते हैं कि यह शुभाशुभ—दोनों भाव मेरा धर्म नहीं है। शुभराग होता है, वह पाप नहीं है, उसीप्रकार धर्म भी नहीं है, किंतु वह पुण्य है। धर्म वस्तु उससे भिन्न है। पुण्य करके अनंत बार देव हुआ, किंतु यह न समझा कि धर्म क्या वस्तु है ? इससे अनंत संसार में परिभ्रमण किया। यदि एक क्षणमात्र भी आत्मा को समझे तो संसार से पार हो जाये।

भगवान शांतिनाथ आदि तीर्थंकर चक्रवर्ती थे। माता के गर्भ में आये, तभी से मति-श्रुत-अवधि, ऐसे तीन ज्ञानसहित आये थे। उनके राग था, अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुए थे, तथापि उपरोक्त आतमभान था।

भगवान ने जैसा मार्ग है, वैसा कहा है, किंतु उसे बनाया नहीं है। 'मग्ग देसयाणं' अर्थात् हे भगवन! आप मोक्ष का मार्ग दर्शानेवाले हो। भगवान तो मार्ग दिखानेवाले हैं, किंतु चलना तो स्वतः को ही है; भगवान जैसा कहते हैं, उसे यदि एक क्षण भी समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

जब सीताजी के गर्भ में लव और कुश थे, उस समय भी उनको सम्यग्दर्शन था—आत्मभान

था। रामचंद्रजी ने सीताजी को वन में छोड़ने का हुक्म दिया, किंतु वहाँ भी उन्हें आत्मा का भान था। धर्मी जीव, संसार में रहते हुए भी निर्लेप रहते हैं। जैसे—धायमाता बालक को खिलाती है, किंतु अंतर में समझती है कि यह बालक कमाकर मुझे नहीं खिलायेगा। उसीप्रकार धर्मी जीव को गृहस्थदशा में होने पर भी अंतर में आत्मा का भान है कि यह शरीर-पुत्रादि मेरे नहीं हैं और जो विकार होता है, वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, यह कोई भी मुझे धर्म में सहायक नहीं हैं।

आत्मभान होने के पश्चात् राग हो, राजपाट हो, युद्ध करता हो, तथापि अंतरंग भान से धर्मात्मा च्युत नहीं होते! शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ—यह तीनों तीर्थंकर चक्रवर्ती थे, माता के गर्भ में आये, तभी से आत्मभान लेकर ही आये थे, तथापि राज्य में रहे, छह खण्ड को जीता—जैसा राग था; उसे अपनी निर्बलता समझते थे, किंतु उस राग को अपना स्वरूप नहीं मानते थे और एक क्षण भी आत्मा के भान से च्युत नहीं होते थे। ऐसे आत्मा को जाने बिना धर्म नहीं होता और न मुक्ति होती है। जैसे पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके टुकड़े हो जायें तो फिर उन्हें मिट्टी से नहीं जोड़ा जा सकता; उसीप्रकार जो एक बार भी आत्मा का भान करे, वह जीव अनंत-संसार में परिभ्रमण न करे और धीरे-धीरे संसार से पार हो जायेगा। ऐसा भान आठ वर्ष की बालिका को भी होता है। महाविदेहक्षेत्र में इस समय श्री सीमंधर परमात्मा विराजमान हैं, वे तीर्थंकर हैं, उनके समवसरण में इससमय आठ-आठ वर्ष के बालक आत्मा का ज्ञान करते हैं। भाई! अनंत काल में आत्मा को जाने बिना तूने सब कुछ किया। तेरा स्वरूप तो गन्ने के रस समान मीठा है और पुण्य-पाप तो मैल है, छिलका है। अहो! भगवान आत्मा का स्वरूप क्या कहता है? शरीर नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, ज्ञानमूर्ति आत्मा है—ऐसा सुनकर अंतरात्मा की महिमा की ओर उन्मुख होने से आठ वर्ष की बालिका को भी आत्मा का भान होता है।

आत्मभावना

जो श्री सद्गुरु ने कहा है, उस निर्ग्रंथमार्ग का सदैव आश्रय रहे! मैं देहादि स्वरूप नहीं हूँ तथा शरीर, स्त्री-पुत्रादि कोई मेरे नहीं है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी ऐसा मैं आत्मा हूँ—इसप्रकार आत्मभावना करने से राग-द्वेष का क्षय होता है।

(—श्रीमद् राजचंद्र : २९ वाँ वर्ष)

टेप रेकोर्डिंग द्वारा प्रवचन प्रसार

आत्मज्ञ सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, प्रत्यक्ष श्रवण करना, वह मुमुक्षुओं के लिये अत्यंत हितावह है; और इसलिये सोनगढ़ आकर प्रत्यक्ष लाभ लेना चाहिये, किंतु ऐसा प्रत्यक्ष लाभ अनेक कारणवश जो मुमुक्षु न ले सकें, उनको लाभ मिल सके, इस हेतु को लक्ष में रखकर यह योजना चालू करने में आयी है।

पूज्य स्वामीजी के महत्वपूर्ण अनेक प्रवचनों की टेप रेकोर्डिंग रीलें उतारने में आयी हैं। जिस गाँव के जिज्ञासु भाईयों को उसके श्रवण करने की भावना हो, वे अपने गाँव के जैन मंदिर, पाठशाला या जैन संस्था के प्रमुख या सेक्रेटरी के पत्र द्वारा हमें सूचित करेंगे तो वहाँ रेकोर्डिंग मशीन तथा प्रवचन की रीलें लेकर इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये श्री मधुकरजी को भेजा जायेगा। और वहाँ अनुकूलतानुसार हिन्दी व गुजराती भाषा में रेकोर्डिंग रीलें, वे सुनायेंगे इसके अलावा वे भाई भजन भी गा सकते हैं तो कुछ समय भक्ति का कार्यक्रम भी रख सकते हैं। तदुपरांत वे जैन धर्म का शिक्षण वर्ग भी चला सकते हैं।

जिन गाँववालों द्वारा आमंत्रण मिलेगा, वहाँ ही वे जावेंगे। और इस बात की सूचना प्रथम से ही दी जायेगी। रेल किराया, तांगा आदि खर्च जिस गाँव से वे वहाँ जावेंगे आवेंगे उतना ही देना होगा। किसी प्रकार का चंदा या भेंट स्वरूप कुछ देने का नहीं है।

[सूचना—मशीन खर्च तथा वेतन खर्च, बम्बई के एक उदार सद्गृहस्थ की ओर से दिया जाता है। जिस गाँव में इलेक्ट्रिसिटी न हो या डी०सी० करेन्ट हो वहाँ पर भी मोटर बेटरी द्वारा मशीन चलेगी ऐसी व्यवस्था की गयी है। अतः ऐसे गाँववाले भी इस योजना का लाभ ले सकेंगे।]

श्री मधुकरजी द्वारा नौ मास में बहुत ही अच्छा प्रचार हुआ है। दूसरी बार के दौरे में सिवनी, दमोह, तुमसर, मलकापुर, रतलाम, खंडवा, रोहतक, झाँसी, विदिशा, भोपाल, गंजबाँसौदा, शहडोल, जोबनेर (जयपुर), अजमेर, सवाई माधोपुर, लश्कर—ग्वालियर, दाहोद, बोटाद होकर सोनगढ़ आ पहुँचे हैं।

अब शीघ्र सूचित करें कि जिससे श्री मधुकरजी को भेजने की व्यवस्था कर सकें। कृपया पत्र व्यवहार नीचे पते पर करें।

श्री व्यवस्थापक—प्रवचन प्रचार-विभाग
दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पोस्ट—सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ समाचार

पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन में सबेरे मोक्षमार्गप्रकाशक में से ७ वाँ अधिकार, और दोपहर में समयसारजी शास्त्र में से निर्जरा अधिकार चल रहा है।

श्री मानस्तम्भजी के मंगल महोत्सव की पूर्व तैयारी हो रही है।

भव्य उत्तंग मानस्तम्भ (-धर्म वैभव स्तम्भ) में जिनेन्द्र श्री सीमंधर भगवान को कल्याणक विधि पूर्वक सं० २००९ में विराजमान किया गया था। उनकी १० वीं वर्षगाँठ बड़े हर्ष उत्साह से मनाने का निश्चय किया गया है। उस समय मानस्तम्भ के ऊपर-नीचे विराजमान श्री जिनेन्द्र का अभिषेक, महापूजन इत्यादि होंगे। उसके लिये मचान बाँधा जा रहा है। यह महान उत्सव चैत्र सुदी ८ से १३ तक मनाया जायेगा, बाद में तारीख २६-४-६२ तक पूज्य श्री कानजी स्वामी राजकोट पधारेंगे, वैशाख सुदी दोज को जन्म जयन्ती राजकोट में मनायी जायेगी। राजकोट में जिनमंदिर के पास बड़ा विशाल स्वाध्याय मंदिर के रूप में प्रवचन हाल बनकर तैयार हुआ है, उसका उद्घाटन भी इसी अवसर पर होगा।

★

जैसा अभ्यास वैसा फल

आकुल रहित होय इम निशदिन, कीजे तत्त्व विचारा हो।
को में कहा रूप है मेरो, पर है कौन प्रकारा हो।
को भव कारन बंध कहा को, आस्रव रोकन हारा को।
क्षपत कर्मबंध कहे सुं, थानक कौन हमारा हो।
इम अभ्यास किये पावत है, परमानंद अपारा हो।
भागचंद यहसार जानके, कीजे बारम्बारा हो॥

★

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
नियमसार	५ ॥)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।।)	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	छहढाला (नई टीका)	॥।–)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	समाधितन्त्र	२ ।=
प्रवचनसार	५)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
अष्टपाहुड़	३)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–	
द्वितीय भाग	॥–)	७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)	शासन प्रभाव	=)
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।